

आधुनिक सन्दर्भ में जैन-दर्शन के पुनर्मूल्यांकन की दिशाएं

डॉ० दयानन्द भार्गव

१. परम्परा मानती है कि महावीर ने अपना उपदेश त्रिपदी में दिया—(१) पदार्थ उत्पन्न होते हैं, (२) नष्ट होते हैं तथा (३) ध्रुव रहते हैं। इसी त्रिपदी को लेकर तत्त्वार्थसूत्र में सत् की परिभाषा दी गई कि सत् उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्त होता है—उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। यदि धर्म-दर्शन को सदभिमुख होना हो असदभिमुख नहीं तो धर्म-दर्शन को केवल ध्रुव न होकर परिणमनशील भी होना होगा—यह स्वतः फलित होता है।

२. इस देश में एक परम्परा सत् को कूटस्थरूप मानती है; वह परम्परा यदि धर्म के सिद्धान्तों को भी सनातन माने तो आश्चर्य की बात नहीं है यद्यपि उस परम्परा में भी सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग के पृथक्-पृथक् धर्म बतलाकर यह इंगित स्पष्ट कर दिया है कि धर्म को युगानुरूप परिवर्तन करना होता है। किन्तु जो परम्परा सत् का स्वरूप ही 'कूटस्थता' तथा 'परिणमनशीलता' दोनों का सम्मिश्रण मानती हो तो वह परम्परा भी यदि धर्म के सिद्धान्तों के कूटस्थ ही होने का दावा करे तो आश्चर्य की बात है।

३. निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है कि यदि कहा जाये कि धर्मदर्शन के सिद्धान्तों में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा सदा परिवर्तन की गुंजाइश बनी रहती है तो यह नियम महावीर की मूल भावना के सर्वथा अनुरूप ही होगा। इसके विपरीत यह मानना कि धर्म-दर्शन का स्वरूप अमुक व्यक्ति द्वारा इदमित्थमूतया सदा सर्वदा के लिये अन्तिम रूप में निर्धारित कर दिया गया है और उसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है—धर्मदर्शन को स्वयं महावीर द्वारा दी गयी सत् की परिभाषा से बाहर निकाल देना है; धर्मदर्शन को असत् अथवा जड़ बना देना है।

४. आज सभी धर्मों में—और जैनधर्म भी उनमें शामिल है—अपने-अपने धर्मों को वैज्ञानिक सिद्ध करने की होड़ सी लगी हुई है। धर्म को वैज्ञानिक कहने का क्या अभिप्राय है? कोई वैज्ञानिक आज यह घोषणा नहीं करेगा कि अमुक विज्ञान के सिद्धान्तों को अमुक वैज्ञानिक ने अन्तिम रूप दे दिया है और अब इस सम्बन्ध में केवल उस वैज्ञानिक के वचनों की व्याख्या की जा सकती है किन्तु किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। किन्तु सभी धर्म इस प्रकार के आशय की घोषणा करते हैं कि अमुक व्यक्ति द्वारा या अमुक ग्रन्थ में उस धर्म के सिद्धान्त इदमित्थमूतया अन्तिम रूप में प्रतिपादित किये जा चुके हैं और उन सिद्धान्तों में अब किसी प्रकार के परिवर्तन की गुंजाइश नहीं है। कम-से-कम ऐसे धर्मों को वैज्ञानिक होने का दावा तो नहीं करना चाहिये।

५. वैज्ञानिक की पद्धति ऐसी है कि उसमें नवीन उद्भावना के द्वार सदा खुले हैं। धर्मदर्शन की पद्धति ऐसी है कि नवीन उद्भावना को भी किसी पुराने व्यक्ति या ग्रन्थ के नाम पर ही चलाया जा सकता है। नवीन उद्भावना की भी धर्मदर्शन में 'नवीनता' स्वीकार नहीं की जा सकती। 'नवीनता' का धर्मदर्शन के क्षेत्र में अर्थ है 'अप्रामाणिकता' किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में 'नवीनता' का अर्थ है 'मौलिकता'। इसलिए धर्मदर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार का ऊहापोह बहुत हुआ है कि अमुक सिद्धान्त प्राचीन शास्त्रसम्मत है या नहीं। किसी सिद्धान्त की प्रामाणिकता इसी में निहित है कि वह प्राचीन शास्त्रानुकूल हो। इस कारण प्राचीन शास्त्रों की व्याख्या में तोड़-मरोड़ भी बहुत की गयी है ताकि सभी नवीन सिद्धान्त प्राचीनशास्त्रानुकूल सिद्ध किये जा सकें। मेरी दृष्टि में यह एक प्रकार से सत्य का अपलाप ही है।

६. यदि धर्मदर्शन के सिद्धान्तों की परिवर्तनशीलता मुक्त मन से स्वीकार कर ली जाये तो प्राचीन शास्त्रों में तोड़-मरोड़ करने की आवश्यकता समाप्त हो जायेगी। संसार के प्रत्येक पदार्थ की परिवर्तनशीलता स्वीकार करने वाला जैनदर्शन सिद्धान्तों को कूटस्थ न मानने में पहल कर सकता है। किसी सिद्धान्त के सत्य या असत्य होने का निर्णय उस सिद्धान्त के विश्लेषण पर आधारित न मानकर इस तथ्य पर आधारित माना जाता है कि वह सिद्धान्त अमुक ग्रन्थ में या अमुक व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित है या नहीं। विद्वानों को विचार करना होगा कि यह प्रणाली धर्मदर्शन के विकास में साधक है या बाधक।

७. धर्मदर्शन की एक मान्यता है कि सत्य का साक्षात्कार एक अतिलौकिक घटना है। सत्य की अभिव्यक्ति या तो अपौरुषेय ग्रन्थों

में होती है या वह सत्य ईश्वर की ओर से किसी विशिष्ट व्यक्ति को प्राप्त होता है या कोई विशिष्ट व्यक्ति उस सत्य को समाधि के क्षणों में प्राप्त करके सर्वज्ञ हो जाता है। अपौरुषेय, ईश्वरीय या सर्वज्ञकथित सत्य पूर्ण, अन्तिम तथा अतर्क्य है। जैनधर्म सत्य को सर्वज्ञों की वाणी में निहित मानता है और क्योंकि जैनधर्म का आधार सर्वज्ञों की वाणी है इसलिये जैन ग्रन्थों में सर्वज्ञ का प्रतिपादन पूर्ण बलपूर्वक किया गया है।

८. आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध उपलब्ध जैनागमों का प्राचीनतम अंश माना जाता है। इस ग्रन्थ में महावीर की जीवनी तथा उनके उपदेश संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता कि महावीर सर्वज्ञ हों। न ही कहीं महावीर के अवधि-ज्ञान या मनःपर्यय ज्ञान का उल्लेख है। जीवन के अध्ययन से महावीर कुछ सत्यों का उद्घाटन करते हैं किन्तु इन सत्यों का साक्षात् उन्हें किसी अलौकिकशक्ति से हुआ हो, इसका कोई उल्लेख नहीं। इससे यह सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या सर्वज्ञता की बात मूलतः महावीर की वाणी में थी। 'जो एक को जानता है वह सबको जानता है तथा जो सबको जानता है वह एक को जानता है'—ऐसे वाक्य आचारांग में उपलब्ध होते हैं किन्तु उनके आधार पर महावीर तीनों लोकों के समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों को जानते थे—यह निर्णय नहीं लिया जा सकता। प्रोफेसर दलसुखभाई मालवणिया ने एक लेख उज्जैन की अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् में प्रस्तुत किया था जिसमें यह अभिमत व्यक्त किया था कि सर्वज्ञता की अवधारणा परवर्ती है महावीर की नहीं।

९. सभी भारतीय दर्शनों के सामने अपने-अपने आगमों को प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रश्न था। नैयायिक ने कहा कि वेद में दृष्ट विषय आयुर्वेदादि सम्बन्धी नियमों की प्रामाणिकता से अदृष्ट ज्योतिषोमादि सम्बन्धी नियमों की प्रामाणिकता का अनुमान किया जा सकता है। यही तर्क आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण-मीमांसा में जैनागमों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये दिया है कि ज्योतिषादि दृष्ट विषयों के नियमों की सत्यता से जैनागमों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। यह सब प्रयत्न आगमों को अचूक सिद्ध करने का है।

१०. इसी दिशा में आधुनिक काल में जैनागमों में उपलब्ध भौतिकी, रसायनशास्त्र तथा गणित सम्बन्धी मान्यताओं का विवरण देकर जैनागमों को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया गया है। जैनागमों में भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ तथ्य मिलते हैं इसमें किसी को मतभेद नहीं है किन्तु यदि हम उन तथ्यों को इस रूप में रखें कि मानो आधुनिक काल के विज्ञान की समस्त उपलब्धि जैनागमों में पहले से ही प्राप्त थी, तो यह विचारणीय बात है। विज्ञान का अपना इतिहास है। उस इतिहास में विज्ञान का निरन्तर विकास हुआ है। जैनागमों में उस समय की अपेक्षा से कुछ वैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन हुआ—यह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व का है किन्तु इस तथ्य को आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता कि आज हम विज्ञान के क्षेत्र में जैनागमों के काल की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ चुके हैं और इस बात में कोई परेशानी नहीं होनी चाहिए कि जैनागमों की या किसी भी अन्य शास्त्र की कोई बात आज के विज्ञान से मिथ्या सिद्ध हो जाये। किन्तु आगमों में सर्वज्ञ की वाणी का संग्रह मानने वाला व्यक्ति ऐसी सम्भावना स्वीकार नहीं करेगा।

११. 'वस्तु अनन्तधर्मात्मक है'—यह अनेकान्त की मौलिक घोषणा है। अनन्तकर्मों के सागर को सान्त आगमों की गागर में बन्द करने का आग्रह कहां तक उचित है? स्वयं आगम भी यह मानते हैं कि जितना सत्य भगवान् को ज्ञात है उसका बहुत थोड़ा भाग आगमों में कहा गया है। ऐसी स्थिति में यदि कोई ऐसी बात कही जाती है जो युक्तियुक्त है किन्तु आगमों में उपलब्ध नहीं है तो उसके मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यदि सत्य को देखने की अनन्त दृष्टियां स्वीकार की जाती हैं, तो सत्य के किसी अनुद्घाटित पक्ष के उद्घाटन की सम्भावना सदा बनी रहेगी। अनेकान्त को विरोधियों द्वारा निरन्तर सन्देहवाद के रूप में रखा गया है। जैनाचार्यों ने बलपूर्वक इस आरोप का खण्डन किया। किन्तु इस शास्त्रार्थ में हम यह भूल जाते हैं कि ज्ञान के विकास का मूल भी सन्देह ही है। पृथ्वी को केन्द्र में मानकर सभी ग्रहों को इसके चारों ओर चक्कर लगाने का जिओसेण्ट्रिक (geocentric) सिद्धान्त था उसमें सन्देह ने इस हीलिओसेण्ट्रिक (heliocentric) सिद्धान्त को जन्म दिया कि सूर्य केन्द्र में है तथा पृथ्वी समेत सभी ग्रह उसका चक्कर लगाते हैं। विज्ञान का इतिहास इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है। किसी ज्ञान को अन्तिम मानने पर इस प्रकार के विकास की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। उपनिषद् के जिन ऋषियों ने यज्ञ की सार्थकता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया वे ही ब्रह्मवाद की स्थापना कर सके। वस्तुतः सन्देह वही हेय है जहां वह हमें निष्क्रिय बना दे, किन्तु जहां स्थापित मान्यता में सन्देह नवीन स्थापना की ओर ले जाये वहां सन्देह का स्वागत ही करना चाहिये। अनेकान्त, मेरी दृष्टि में, सत्य को एक स्थिर जड़ तथ्य न मानकर सापेक्ष तरल गतिशील वस्तु मानता है। ज्ञान के क्रमिक विकास के लिये यही एक मात्र गतिशील मार्ग है।

१२. जो दर्शन सत्य को एकान्तिक मानते हैं तथा यह मानते हैं कि वस्तु में परस्पर विरोधी-धर्म नहीं रह सकते, उनके लिए न तो शास्त्रोक्त कथन के अतिरिक्त कोई कथन किया जा सकता है न शास्त्रोक्त कथन के विरोधी कथन के सत्य होने की सम्भावना है। किन्तु यदि अनेकान्तवादी भी यही माने तो ज्ञान के प्रति दृष्टिकोण में एकान्तवादी और अनेकान्तवादी के बीच का अन्तर ही नहीं रह जायेगा। शास्त्र के प्रति 'यदिहास्ति तदव्यय यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' वाला दृष्टिकोण अनेकान्तवाद की मूल दृष्टि से मेल नहीं खाता। यदि जैन मनीषी इसे हृदयङ्गम कर सकें तो जैन धर्मदर्शन का गतिरोध समाप्त हो सकता है तथा दर्शन एक जीवित विद्या बन सकती है।

१३. सत्य के नित्य-नूतन पक्ष उद्घाटित करने में तत्पर व्यक्ति तथा समाज को जागरूक तथा सृजनशील रहना होता है किन्तु पुराने सत्य को दोहराने मात्र में न जागरूकता अपेक्षित है न सृजनशीलता। दर्शन की स्थिति आज पुराने सत्य को दोहराने मात्र की है। इस लिए दर्शन देश की प्रतिभाओं को आकृष्ट नहीं कर पा रहा। यह स्थिति दर्शन सहित सभी प्राच्य-विद्याओं की है। जो सत्य को जितनी ही नयी से नयी अपेक्षाओं से देख सकेगा वह सत्य की उतनी ही अनेकान्तात्मकता को उजागर कर पायेगा। इसके लिए सतत बौद्धिक गतिशीलता आवश्यक है।

१४. जैन दर्शन मानव की गरिमा का उद्घोषक है, श्रम का प्रतिष्ठापक है तथा समता का समर्थक है। इसके साथ ही अहिंसा और अपरिग्रह का युगल उसकी आचार-मीमांसा का जागरूक प्रहरी है। मान, माया, क्रोध तथा लोभ पर विजय उसका लक्ष्य है। मन, वचन तथा काया का संयम उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। ये जैन दर्शन के कुछ ऐसे पक्ष हैं जिन्हें सनातन कहा जा सकता है। यह धर्म का कूटस्थ पक्ष है, शेष अंश बहुत कुछ परिवर्तनशील हैं।

१५. ऊपर हमने आचाराङ्ग का उल्लेख किया। आचाराङ्ग में न देवी-देवताओं का उल्लेख है, न स्वर्ग-नरक का, न यक्ष, गन्धर्व किन्नरों का, न महावीर के किन्हीं अतिशयों का, न अवधिज्ञान का, न मनःपर्यय ज्ञान का, न केवल ज्ञान का। इसकी चर्चा मैंने एक स्वतन्त्र निबन्ध में की है। परवर्ती जैन साहित्य में ये सब अतिलौकिक तत्त्व समाविष्ट हो गये। शायद इनका समावेश युग की मांग रही होगी। किन्तु क्या इन्हें धर्म का शाश्वत पक्ष मानकर आज भी इनका प्रतिपादन करते रहना आवश्यक है? महावीर जैसे साधक के मानवीय रूप का देवीकरण कर देने से आज उनका स्वरूप उज्ज्वल होता है या धूमिल—यह विचारणीय है।

१६. जैन धर्म जन्मना श्रेष्ठता के प्रतिपादन का विरोधी रहा। यही उसके वर्णव्यवस्था के विरोध का आधार था—**कम्मुणा बम्होणो होई कम्मुणा होई खत्तिओ**। किन्तु उसी जैन धर्म की परम्परा ने यह घोषणा कर दी कि तीर्थङ्कर केवल एक वर्ण विशेष—क्षत्रिय-वर्ण—में भी एक वर्णविशेष—राजवर्ग—में ही उत्पन्न हो सकते हैं। यही नहीं, एक परम्परा के अनुसार महावीर का जन्म ब्राह्मण कुल में इसलिए नहीं सम्भव हो सका कि ब्राह्मण का वंश नीचगोत्र है और एक तीर्थङ्कर नीचगोत्र में उत्पन्न हो नहीं सकते। समझ में नहीं आता कि जन्मना किसी की उच्चता तथा नीचता का विरोध करने वाली परम्परा में यह मान्यता कैसे प्रश्रय पा सकी। वस्तुतः मानवस्वभाव वंश-परम्परा को भी महत्त्व देता ही है अतः जन्म की अपेक्षा पुरुषार्थ को ही श्रेष्ठता का सिद्धान्ततः आधार मानने पर भी अनजाने में जैन-परम्परा जन्म को महत्त्व दे ही बैठी। किन्तु इसे धर्म का शाश्वत रूप मान लेना ठीक न होगा। एक बार इस परम्परा के प्रतिष्ठित हो जाने पर यह सम्भव है कि तीर्थङ्करों में कुछ ऐसे व्यक्ति भी—जो वस्तुतः राजवंश से न हों—राजवंश से जोड़ दिये गये हों। इसी प्रकार परम्परा के अनुसार सभी तीर्थङ्कर सुन्दर हैं। संयमी व्यक्ति का आध्यात्मिक सौन्दर्य होता है—यह सत्य है किन्तु उनकी नाक चपटी न होती हो या उसके अधर मोटे न हो सकें या उसका वर्ण काला न हो—ऐसा कोई नियम नहीं। राजकुमार—अर्थ और काम का पर्याय है। उसके संयम को एक सामान्य व्यक्ति के संयम की अपेक्षा अधिक महत्त्व देकर तीर्थङ्कर और केवली के बीच जो भेदक रेखा खींची गयी है उससे परोक्ष में भोग को मूल्य मिलता है और प्रजातन्त्र तथा समाजवाद के इस युग में सामान्य व्यक्ति का महत्त्व कम होता है।

१७. राजकुमार ही तीर्थङ्कर हो सकता है—यह घोषणा साहित्य क्षेत्र की इस घोषणा की प्रतिध्वनि है कि राजा ही नाटक का नायक हो सकता है। लेकिन आज का युग राजा रानियों का नहीं, प्रेमचन्द के होरी और धनिया का युग है। अपरिग्रह को महत्त्व देने वाला दर्शन तीर्थङ्कर बनने के लिए राजकुमार होने की शर्त लगाये—यह सामन्तवादी युग का ही प्रभाव कहा जायेगा। इसी प्रभाव के अधीन ब्रह्मचर्य की महिमा गाने वाले दर्शन ने अपने महापुरुषों—शलाकापुरुषों—के अनेकानेक सहस्र रानियों की कल्पना की। ये सब धारणायें धर्म की समसामयिक व्याख्या हैं जो कदाचित् धर्म के मूलभूत रूप से मेल नहीं खाती।

१८. जैन धर्म के क्षेत्र में एक विशेष चिन्तनीय विषय है—समाजदर्शन। जैन दर्शन का प्रादुर्भाव एक व्यक्तिनिष्ठ दर्शन के रूप में हुआ या सम्भव है कि प्रोगैतिहासिक काल में उसका कोई सामाजिक पक्ष भी रहा हो क्योंकि परम्परा मानती है कि ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि की भी व्यवस्था दी थी। किन्तु आज जैन धर्म के जो सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं उनसे कोई व्यवस्थित समाज की रूपरेखा सामने नहीं आती। किसी व्यक्तिगत आचारमीमांसा के समाजोपयोगी पक्ष हो सकते हैं किन्तु इस कारण उस आचार मीमांसा को समाज दर्शन नहीं कहा जा सकता। इस अभाव की पूर्ति के अनेक प्रयत्न हुए हैं किन्तु अनेक समस्याओं का समाधान अभी शेष है।

१९. इन समस्याओं में एक समस्या का उल्लेख यहां इसलिए किया जा रहा है कि वह आज की प्रमुख समस्या है। समाजवाद सबको विकास का समान अवसर देना चाहता है। पूंजीवादी व्यवस्था में एक वर्ण-विशेष धन के बल पर अपने लिए कुछ विशेष सुविधा जुटा लेता है। इन दोनों विचारधाराओं के बीच जो संघर्ष है समाजवाद उसका अन्त करने के लिए हिंसा का भी प्रश्रय अनुचित नहीं मानता। धनी समाज का शोषण करके धन एकत्रित करता है—यह अन्याय है। इस अन्याय के विरुद्ध हिंसक क्रान्ति की जा सकती है—यह समाजवाद का मत है। कर्मवादी गरीब अमीर का भेद कर्मकृत मानता है मनुष्यकृत नहीं—कम से कम सामान्य धारणा यही है। समाजवाद समता तथा न्याय की स्थापना के सामूहिक लक्ष्य के लिए हिंसा को अनुचित नहीं मानता। अपरिग्रहवाद का सिद्धान्त समाज की आर्थिक विषमता को समाप्त नहीं

कर पाया—यह प्रत्यक्ष है। तब क्या इस विषमता को समाप्त करने का एक मात्र उपाय हिंसा ही शेष है? क्या इस प्रकार की हिंसा विरोधी-हिंसा के समान गृहस्थ के लिए अनुमत होगी? क्या कर्म सिद्धान्त आर्थिक विषमता का पोषक है? इत्यादि समसामयिक प्रश्नों पर विस्तार से विचार की आवश्यकता है। किन्तु अहिंसा, अपरिग्रहादि सिद्धान्तों की चर्चा के समय इन प्रश्नों को न छूकर केवल इनके सिद्धान्त पक्ष की प्रशंसात्मक शब्दों में चर्चा कर दी जाती है। अहिंसा और अपरिग्रह पर बल देने वाला दर्शन आर्थिक शोषण तथा विषमता के विरुद्ध एक सबल आन्दोलन बनता है या कि यथास्थितिवाद का समर्थक—यह एक ज्वलन्त प्रश्न है।

२०. मैं मानता हूँ कि जैन दर्शन में एक गतिशील दर्शन होने के बीज उपस्थित हैं। उनमें सत्य के नित्य नवीन स्वरूप को उद्घाटित करने का पूर्णविकाश है। उसे मानवीय तथा तार्किक धरातल पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। पौराणिक अतिलौकिकता उसका अनिवार्य अंग नहीं है। आगमप्रामाण्यवादी होने पर भी जैन दर्शन सत्य को आगम से बंधा हुआ नहीं मानता। महावीर जैन परम्परा में उत्पन्न हुए किन्तु उन्होंने सत्य को किसी गुरु या आगम से नहीं, अपने अनुभव से जाना। यह व्यक्तिस्वातन्त्र्य का ज्वलन्त प्रमाण है। जैन-धर्म का मूल है समता। इसके आधार पर जैन दर्शन ने कभी जन्मना श्रेष्ठता के सिद्धान्त का विरोध करते हुए वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध जाकर हरिकेशी जैसे चाण्डाल कुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए अध्यात्म के द्वार खोले थे। आज वही दर्शन आर्थिक विषमता के विरोध में आवाज उठा कर सर्वहारा वर्ग के लिए सम्मानपूर्ण जीवन के द्वार खोल सकता है अन्यथा जब यही कार्य हिंसक क्रान्ति द्वारा होता है तो धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा व्यक्ति-गरिमा की लाश पर भौतिक वैभव प्रतिष्ठित होता है—जो मानव जाति के लिए श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि उसमें एक ओर सहस्रों वर्षों का शोषण समाप्त होता है किन्तु दूसरी ओर सहस्रों वर्षों की मानव जाति की उपलब्धि भी उसके साथ ही समाप्त हो जाती है।

समीचीन धर्म

कोई भी धर्म चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, यदि समीचीन है तो ग्राह्य है, अन्यथा ग्राह्य नहीं है। और इसलिए प्राचीन अर्वाचीन से समीचीन का महत्त्व अधिक है, वह प्रतिपाद्य धर्म का असाधारण विशेषण है। उसकी मौजूदगी में ही अन्य दो विशेषण अपना कार्य भली प्रकार करने में समर्थ हो सकते हैं। अर्थात् धर्म के समीचीन (यथार्थ) होने पर ही उसके द्वारा कर्मों का नाश और जीवात्मा को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में धारण करना बन सकता है, अन्यथा नहीं। दूसरे, धर्म के नाम पर लोक में बहुत सी मिथ्या बातें भी प्रचलित हो रही हैं उन सबका विवेक कर यथार्थ धर्मदेशना की सूचना देना भी समीचीन विशेषण का प्रयोजन है। इसके सिवाय, प्रत्येक वस्तु की समीचीनता (यथार्थता) उसके अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर अवलम्बित रहती है, दूसरे के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव पर नहीं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में से किसी के भी बदल जाने पर वह अपने उस रूप में स्थिर भी नहीं रहती और यदि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की प्रक्रिया विपरीत हो जाती है तो वस्तु भी अवस्तु हो जाती है अर्थात् जो ग्राह्य वस्तु है वह त्याज्य और जो त्याज्य है वह ग्राह्य बन जाती है। ऐसी स्थिति में धर्म का जो रूप समीचीन है वह सबके लिए समीचीन ही है और सब अवस्थाओं में समीचीन है—ऐसा नहीं कहा जा सकता; वह किसी के लिए किसी अवस्था में असमीचीन भी हो सकता है। उदाहरण के रूप में एक गृहस्थ तथा मुनि को लीजिए। गृहस्थ के लिए स्वदार-सन्तोष, परिग्रह परिमाण अथवा स्थूल रूप से हिंसादि के त्याग रूप व्रत समीचीन धर्म के रूप में ग्राह्य हैं जबकि मुनि के लिए उस रूप में ग्राह्य नहीं हैं। एक मुनि महाव्रत धारण कर यदि स्वदार गमन करता है, धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहों को परिमाण के साथ रखता है और मात्र संकल्पी हिंसा के त्याग का ध्यान रखकर शेष आरम्भी तथा विरोधी हिंसाओं के करने में प्रवृत्त होता है तो वह अपराधी है। क्योंकि गृहस्थोचित समीचीन धर्म उसके लिए समीचीन नहीं है।

—आचार्य रत्न श्री देशभूषण, भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन, दिल्ली, १९७३, पृ० ३ से उद्धृत